

## शिक्षा का मनोविज्ञान : उत्तर प्रदेश के मदरसे

□ वशीम अहमद

अनुवाद - सुरेश पंडित

इधर देश में मदरसों को लेकर हिन्दू कट्टरपंथी आरोप लगाते रहे हैं कि मदरसे आतंकवादियों की फसल तैयार कर रहे हैं, और यह कि ये आई. एस. आई. के अड्डे हैं। इसे पूर्वग्रह ग्रसित दुष्प्रचार माना जाता है। ऐसा मानना तब और उचित हो जाता है कि ऐसे आरोपों की प्रतिक्रिया में इन कट्टरपंथियों द्वारा मदरसों की तर्ज पर हिन्दू कट्टरपंथ की दीक्षा शालाएं स्थापित करने की कोशिश की जाती है। तथापि यदि शैक्षिक दृष्टि से देखा जाये तो मदरसों की स्थिति कतई संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। किन्तु इनकी स्थिति बाहर की दुनिया के लिए मिथक जैसी बनी हुई है। इनकी बेहतरी का सिर्फ यही रास्ता दिखता है कि जिस समुदाय से मदरसे गहरे संबंधित हैं उसी से इन्हें लेकर आलोचनात्मक चिंतन की शुरुआत हो। यह एक ऐसा ही प्रयास है। वशीम अहमद का यह लेख मूलतः 'इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली' के मार्च 25-31, 2000 अंक में छपा था। साभार पुनर्प्रकाशित।

उत्तर प्रदेश में विशेषकर गोंडा, बस्ती, सिद्धार्थ नगर, आजम गढ़, मुबारकपुर और वाराणसी आदि जिलों में अगणित पारम्परिक धार्मिक इस्लामी स्कूल हैं जो 'मक़ातिब' कहलाते हैं। (इनका एक वचन 'मक़तब' होता है।) ये पाँचवी कक्षा तक शिक्षा देते हैं। इसी तरह मदरसे स्नातक (ग्रेजुएट) स्तर तक शिक्षा प्रदान करते हैं। इनमें से कुछ तो भली भाँति स्थापित हैं और अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हैं; जैसे देवबन्द (सहारनपुर) का दारूल उलूम और लखनऊ का नदवातुल उलेमा ख्याति प्राप्त धर्म प्रशिक्षणालय (सेमिनरी) हैं। देश के अन्य भागों में भी कई बड़े मदरसे हैं जैसे भोपाल में मदरसा ताजुल मस्जिद और तमिलनाडु में ओमराबाद जामिया दारुस्सलाम। केरल में भी इसी तरह की, किन्तु अपेक्षाकृत छोटी, बहुत सी संस्थाएँ हैं। फिर भी इनका मुख्य संकेन्द्रण उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग में है।

इनमें सर्वाधिक ख्याति प्राप्त संस्थाएँ ब्रिटिश शासन काल की हैं। इन्होंने आजादी के बाद दूसरी संस्थाओं को बनने की प्रेरणा दी। इसीलिये इन्हें चाहे आजादी से पहले या बाद के जमाने का मानें, इनका इतिहास औपनिवेशिक काल और मुख्यतः ब्रिटिश नीति से जाकर जुड़ता है। फूट डालो और राज करो वाली अंग्रेजों की नीति ने लोगों को एक समूह के साथ खुला पक्षपात और दूसरे के प्रति उपेक्षा के रूप में स्वयं को प्रकट किया। परिणाम यह हुआ कि एक समूह तो राष्ट्रीय जीवन (सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक) की मुख्यधारा के नजदीक आता चला गया और दूसरा अपने आपको समेटकर हाशिये की ओर खिसकता चला गया। इस मुद्दे के विस्तार में जाने का यह अवसर नहीं है। लेकिन यहां यह

बात अवश्य ध्यान में रखी जा सकती है कि 1857 का महान विद्रोह (जिसे कुछ लोग एक आम बगावत भर मानते हैं) लंबे समय से दबाई गई लोगों की भावनाओं का एक तीव्र विस्फोट ही था।

फिर भी सारा दोष ब्रिटिश नीति का ही नहीं है। इसमें काफी बड़ा दोष 'मजहब खतरे में है' की भावना का है। मजहब पर खतरे की वर्षों या दशकों से पनपती इस भावना ने लोगों में एक गैर मिलनसार प्रवृत्ति को, सामाजिक घुन्नेपनी की प्रवृत्ति को बढ़ाया। समुदाय की बड़ावन्दी बढ़ी। वे ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ, जिनमें से ये संस्थाएँ गुजरी हैं अधिकतर प्रतिक्रियावादी प्रकृति की उपज हैं। इनके मनोविज्ञान को समझना अत्यावश्यक है।

सबसे पहली ध्यान देने लायक बात है इनका एकान्तिक दृष्टिकोण। इन संस्थाओं में दूसरी तरह की प्रचलित शिक्षा पद्धतियों को दरकिनार कर इस्लाम के अध्ययन को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। यद्यपि बहुत सा संचित ज्ञान और मानवीय अनुभव इन उर्दू माध्यम के इस्लामी अध्ययनों पर आधारित सिलेबस में सन्निविष्ट है लेकिन इसके पीछे सुनिश्चित रूप से यह मनोवृत्ति काम करती है कि इसके बाहर कोई मूल्यवान ज्ञान मौजूद नहीं है और दूसरी शिक्षा प्रणालियों में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे इसमें समाहित किया जाये। इस बहिष्कारवादी प्रवृत्ति की तार्किक परिणति एक अनमनीय दृष्टिकोण में हुई है। दुनिया आगे बढ़ती है। जीवन की समस्याएँ अधिकाधिक जटिल होती जाती हैं लेकिन सिलेबस ज्यों का त्यों रहता है। इस्लामी न्यायशास्त्र की पोथियाँ चार या पाँच सदियों

पहले लिखी गई थीं। लेकिन वे आज भी प्रचलित हैं और सिलेबस में उनका स्थान भी बहुत महत्वपूर्ण है।

इन मकतबों और मदरसों के पीछे दूसरा अन्तर्निहित विचार यह भी है कि शिक्षा केवल मुसलिम छात्रों के लिए जरूरी है। इन संस्थाओं में हिन्दू, सिक्ख या ईसाई छात्रों को दाखिला नहीं दिया जाता। इन्हें साफ-साफ या औपचारिक रूप से तो नहीं रोका जाता लेकिन इनका वातावरण दूसरी तरह की आस्था रखने वाले लोगों के लिए बिल्कुल भी अनुकूल नहीं होता। छोटे बच्चों के प्रभावगाही मस्तिष्कों को काफी लंबे समय तक एक बहिष्कारवादी वातावरण में रखा जाता है और उन्हें दूसरे लोगों के साथ अन्तर्क्रिया करने से वंचित रखा जाता है जिससे वे वैसे ही बन जाते हैं जैसा उन्हें बनाया जाता है - एक खास विचार वाले स्कूल के प्रतिनिधि। वे खुरदरी और उतार चढ़ाव वाली जिन्दगी का सामना करने में असमर्थ होते हैं। यदि उन्हें कभी मुस्लिम क्षेत्र में से गुजरना पड़े तो बेचैनी महसूस करने लगते हैं। रेलों व बसों में टिकट तक मांगने में सकुचाते हैं। अपने सहयात्रियों के साथ मेलजोल करने, समाजीकरण करने में वे घबराते हैं और तभी सुविधा महसूस करते हैं जब वे अपने जैसे लोगों की संगत में होते हैं।

इस लेखक ने भी अपनी शिक्षा आजमगढ़ जिले के एक ऐसे ही मदरसे जमायतुल-फलाह में पाई थी। उसी जिले में कुछ और मदरसे भी हैं। जैसे जमायतु रशद आजमगढ़ के जिला मुख्यालय और मदरसातुल इस्लाह तथा बायतुल उलूम पास के एक कस्बे सराय मीर में स्थित हैं। जौनपुर में भी ऐसी ही कुछ संस्थाएं हैं जैसी एक गौरेनी में है। इन मदरसों में आमतौर पर दी जाने वाली शिक्षा छात्रों के मस्तिष्क को संकीर्ण व आबद्ध बनाती है। यह वास्तव में शिक्षित करने की बजाय उनमें आत्मपूर्णता की भावना पैदा करती है।

इस आत्म पूर्णता को मापने का एक उदाहरण इस प्रकार है कि यदि कोई इन मदरसों में पढ़े व्यक्ति से उसकी इतिहास की समझ के बारे में पूछताछ करे तो वह बतायेगा कि इतिहास से उसका अभिप्राय केवल इस्लामी या मुस्लिम इतिहास से है। दुनिया के या भारत के इतिहास से उसका कोई संबंध नहीं है। ऐसा लगता है कि इन छात्रों के परे उन लोगों के लिये इतिहास का कोई वजूद नहीं है।

यह बात तब और भी अधिक आश्चर्यजनक लगती है जब पवित्र कुरान दुनिया के इतिहास को ज्ञान का तीसरा प्रमुख स्रोत मानता है। (दूसरे दो में एक स्वयं मनुष्य और दो यह ब्रह्मांड)। कुरान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और सब कुछ उसकी परिधि में आ जाता है। लेकिन वे लोग जो उसके संदेशवाहक होने का दम भरते हैं उन्होंने अपने पर स्वयं कतर लिये हैं।

उनकी यह आत्मपर्याप्तता की भावना दूसरे तरीके से भी प्रकट होती है। अब उनमें यह एक सामान्य भावना विकसित हुई है कि इन मदरसों में अंग्रेजी भी पढ़ाई जानी चाहिये। लेकिन यदि उनसे पूछें कि अंग्रेजी पढ़ना क्यों जरूरी है तो उनका उत्तर होता है कि यह अपने विचारों को संप्रेषित करने और संदेश प्रसारित करने के लिए आवश्यक है। इसमें एक बात गायब है। विचारों को प्राप्त किये बिना उनको संप्रेषित करने का प्रश्न भला कैसे उठ सकता है? इसलिए यह विचारों को दूसरों तक संप्रेषित कर देने के लिए ही जरूरी नहीं है बल्कि दूसरों से सीखने और विचारों को आत्मसात करने के लिए भी परमावश्यक है। यह कहना व्यर्थ होगा कि दुनिया के विचारों को प्राप्त करने में एक विश्व भाषा ही सहायक हो सकती है।

इन संस्थाओं के छात्रों में एक प्रवृत्ति और देखने में आती है। इनमें किसी के जीवन के कोई निजी उद्देश्य नहीं होते। हमेशा कुछ करने का अस्पष्ट-सा विचार उनके दिमाग में रहता है। वह क्या है इसकी कोई साफ जानकारी उन्हें नहीं होती। केवल उस अस्पष्ट काम को करने का जज्बा और उत्साह उनमें बना रहता है। ठंडे तथ्यों, जमीनी हकीकतों और जिन स्थितियों में वे रह रहे हैं उनकी सही जानकारियों का सामना करने के बजाय जुम्मे के दिन दिये जाने वाले धर्मोपदेशों द्वारा उनमें भावुकता को भरा जाता है। ये लेक्चर और उपदेश न केवल रेत जैसी सूखी और बेसिर पैर वाली फिलोसोफी से भरे होते हैं बल्कि इनके असली मायनों से वे भी अवगत नहीं होते जो ये भाषण देते रहते हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के मदरसे खासतौर पर परम्परागत शिक्षा देने के लिये मशहूर हैं। इसके फायदे-नुकसानों से इनका कोई वास्ता नहीं रहता। इस प्रसंग में एक सवाल यह भी है कि क्या परंपरागत शिक्षा के सरोकार अनिवार्यतः और असंग रूप में आधुनिक शिक्षा के सरोकारों से भिन्न हैं। आधुनिक शिक्षा के सरोकार आखिर हैं क्या? यह एक विवादास्पद बिन्दु है। लोगों के मत भिन्न-भिन्न हो सकते हैं फिर भी कमोबेश इन चार विशेषताओं पर लोगों की सहमति है - (1) सामाजिक प्रासंगिकता (2) ठोस सबूत (3) तर्क संगत निष्कर्ष (4) और पठनीयता। प्रश्न यह है कि क्या ये चारों सरोकार परम्परागत धार्मिक प्रशिक्षणालयों के नहीं हैं? आज कोई भी परम्परा को पकड़े रहकर बदलते समय का साथ नहीं दे सकता। जो लोग एक जगह स्थिर रहना चाहते हैं वे कुचले जा सकते हैं।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि ये धार्मिक प्रशिक्षणालय उर्दू, अरबी और कभी कभी फारसी की भी अच्छी पुख्ता तालीम देते हैं। लेकिन ये इन भाषायी सरोकारों और ज्ञान की पुनरावृत्ति परक और रटन्त पद्धति से बाहर जाने की कभी कभी ही बड़ी मुश्किल सके कोई चेष्टा करते हैं। चमकीली व्याख्याओं

के पीछे मूल पाठ छिपे रह जाते हैं। सीधे इन मूल पाठों को पढ़ने के लिए छात्रों को उत्साहित करने का वातावरण इनमें प्रायः नहीं रहता। न ही उन्हें इन मूल पाठों को सामाजिक परिवेश में रखकर विश्लेषण और आलोचना के जरिये समझने का अवसर दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि वे पूरी तरह जो कुछ उन्हें सिखाया-पढ़ाया गया है उस पर ही निर्भर हो जाते हैं और इस आबद्धकारी प्रभावों से स्वतंत्र होने की कोशिश कभी नहीं करते।

उदाहरण के लिए जो लोग न्यायशास्त्र के हनफी स्कूलों में पढ़ते हैं, जैसे देव बन्द का दारूल उलूम और ऐसे ही दूसरे स्कूल, वे उस स्कूल की विचारधारा के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इसी प्रकार अहल एहादिथ मदरसे, जैसे वाराणसी में दारूल उलूम अस सथाफियाह, केवल अहले एहादिथ उलेमा ही तैयार करते हैं। उत्तर पूर्वी उत्तरप्रदेश में अहल एहादिथ स्कूल ही अधिकतर हैं। इसी तरह का एक स्कूल नेपाल की सीमा पर झण्डानगर में जामिया सिराजुल उलूम और एक गोंडा जिले के बोन्दिहार में है।

न्यायशास्त्र के एक स्कूल के छात्रों को अक्सर भिन्न न्यायिक विचार वाले स्कूल में दाखिला नहीं मिलता। न ही वे उसे पाने की कोशिश करते हैं। फिर भी इन तमाम मदरसों में एक बात जो सर्वत्र समान रूप से मिलती है वह है छात्रों के स्थितियों को दूसरी तरह से देखने और स्वतंत्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित न किया जाना। इस शिक्षा पद्धति की आर्थिक व्यवस्था भी अनोखी है। कहने की जरूरत नहीं है कि इनका सारा खर्चा संपन्न और लोकोपकारक मुसलमानों द्वारा ही उठाया जाता है। इससे समुदाय की शिक्षा के प्रति निष्ठा प्रकट होती है। मुश्किल से ही कोई मदरसा सरकारी अनुदान प्राप्त करता है। इस बारे में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वे इस तरह की सरकारी सहायता प्राप्त करने की कोशिश भी नहीं करते। इससे जाहिर होता है कि यह समुदाय अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने के प्रति कितना कृत संकल्प है। सवाल यह है कि इस निवेश के बदले में समुदाय को क्या मिल रहा है ?

यहां के स्नातक (यदि हम उन्हें इस स्तर का मानें तो) राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में नहीं मिल पाते। आज की दुनिया में जीने के लिए जरूरी कौशलों का अभाव उन्हें किसी काम के लिए उपयोगी नहीं बनने देता। उनमें से कुछ तो अपना छोटा-मोटा व्यवसाय शुरू कर देते हैं। लेकिन दूसरे लोग अपनी आजीविका के लिए अपना मदरसा या मकतब खोल लेते हैं जिनके अपने कोई उद्देश्य नहीं होते। न वे पाठ्यचर्या पर कोई विचार करते हैं क्योंकि वह तो स्थायी रूप से निर्धारित होती है।

यह एक ऐसा दुष्चक्र है जो कभी खत्म नहीं होता क्योंकि हर साल इन मदरसों से नई पीढ़ी निकल कर आती रहती है। हां, इनमें से कुछ यूनिवर्सिटियों में भी जाते हैं। कुछ मुस्लिम छात्र सरकारी

सैकेण्ड्री या प्राइमरी स्कूलों में भी चले जाते हैं। प्रायः सरकार द्वारा दी गई सुविधाओं का उपयोग नहीं होता। राजनैतिक पहलू भी निराशाजनक है। इन छात्रों के लिए सारा देश उद्यम या कार्य का क्षेत्र नहीं होता। इनके लिये तो समुदाय ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। फिर भी एक बात जोर देकर की जा सकती है कि ये संस्थाएं आई. एस. आई. के एजेन्टों या उनकी गतिविधियों की उत्पादन केन्द्र किसी भी हालत में नहीं हैं। इनके बारे में ऐसा प्रचार करना इनके प्रति सरासर अन्याय है। इन पर अज्ञान का केन्द्र होने का तो आरोप लगाया जा सकता है। इनके छात्र बड़े भोले होते हैं व पुलिस को देखकर ही घबरा जाते हैं। वे राष्ट्र विरोधी या विनाशकारी तो हो ही नहीं सकते। राष्ट्र निर्माण में कोई विशिष्ट भूमिका निभाने के लिए पूरी तरह तैयार न हो पाने और अपने चारों ओर जो कुछ हो रहा है उसके प्रति निष्क्रिय व उदासीन दर्शक बने रहने के कारण वे हमारी दया के पात्र होते हैं। विडंबना यह भी है कि ये संस्थाएं जिस एक खास समुदाय के निर्माण के लिये बनी हैं वह काम भी ये नहीं कर रही हैं।

इस तथ्य का खंडन नहीं किया जा सकता कि उर्दू, अरबी और फारसी का जो ज्ञान वे मदरसे देते हैं वह उल्लेखनीय होता है। इसका विभिन्न अकादमिक उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है। दरअसल आधुनिक शिक्षा के साथ इन भाषाओं का ज्ञान एक स्पृहणीय योग्यता बन सकता है। अरबी के अच्छे ज्ञान के लिए व्यक्ति को कड़ी मेहनत और योग्य मार्गदर्शन की जरूरत पड़ती है। लेकिन भाषा को ही ज्ञान मान लेने की गलती इन विशेषताओं को निरर्थक बना देती है।

दूसरे अनुशासनों के लिए किसी को तैयार करना बड़ा मुश्किल होता है। यहीं पर अन्तर उर्वरीकरण (क्रोस फर्टिलाइजेशन) का सवाल सामने आता है। पारम्परिक और आधुनिक शिक्षा का सम्मिश्रण एक संवाग संपूर्ण शिक्षा को जन्म दे सकता है। लेकिन दोनों को मिला देना भी तो आसान नहीं है।

शायद कुछ ऐसे चुने हुए मदरसे, जो उनके लिए खुले हों जिन्हें वे स्वेच्छा से अपनाना पसन्द करें, मानवीय अन्तःशक्ति के निर्माण और इस्लामी विद्वानों द्वारा छोड़ी गयी बौद्धिक विरासत को सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। इसी तरह केवल उच्च योग्यता प्राप्त चुने हुए अध्यापकों को ही वहां पढ़ाने का दायित्व सौंपा जाय। इस काम में कुछ योग्य इस्लामी विद्वान मार्ग दर्शन कर सकते हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों के इस्लामी अध्ययन वाले विभागों को धार्मिक विज्ञानों में विशेषज्ञता प्राप्त करवाने का दायित्व सौंपा जा सकता है, यह प्रक्रिया आम लोगों को धार्मिक पांडित्य के गलाघोटू प्रभाव से मुक्त करेगी और आर्थिक दुरवस्था से भी निजात दिलायेगी। ♦